

प्रकाशक की ओर से

मजदूर वर्ग के महान शिक्षक फ्रेडरिक एंगेल्स ने वर्ष 1845 में पूंजीवादी समाज के चरित्र, सामाजिक क्रांति और भावी कम्युनिस्ट समाज के बारे में अपने दो सम्बोधनों में बेहद महत्वपूर्ण बातें कही थीं। फ्रेडरिक एंगेल्स के ये सम्बोधन आज भी उतने ही शिक्षाप्रद और भावी कम्युनिस्ट समाज के प्रति विश्वास जगाने वाले हैं।

वर्तमान पूंजीवादी समाज बेहद संकट के दौर से गुजर रहा है। विश्व आर्थिक संकट का कोई हल दुनिया के पूंजीपति वर्ग के पास नहीं है। पूंजीपति वर्ग का कोई भविष्य नहीं है।

एंगेल्स कहते हैं, “सामान्य विवेक भी इसी सत्य पर मुहर लगाता है और सबसे ऊपर इंसानों के हितों से भी यही पुकार उठती है- भविष्य कम्युनिस्ट सिद्धान्त का ही है। भविष्य हमारा है!!”

ये दो सम्बोधन हिन्दी भाषा में काफी वर्ष पहले हिन्दी की चर्चित पत्रिका ‘पहल’ के 47वें अंक में छपे थे। अंग्रेजी भाषा से हिन्दी में अनुवाद श्री प्रदीप सक्सेना ने किया था। ‘नागरिक’ पाक्षिक अखबार (www.enagrik.com) में ‘पहल’ पत्रिका से साभार लेकर वर्ष 2013 व 2014 में छापे गये थे। सम्बोधनों के शीर्षक ‘नागरिक’ के सम्पादक ने दिये हैं।

इन दोनों सम्बोधनों को हम इस आशा के साथ प्रकाशित कर रहे हैं कि ये मजदूर वर्ग को संगठित करने में लगे व्यक्तियों और साथ ही कम्युनिस्ट समाज में विश्वास रखने वालों के लिए प्रेरणास्पद होंगे।

सितम्बर, 2015

प्रकाशक
सर्वहारा प्रकाशन

विषय सूची

1. मुक्त प्रतियोगिता, मध्य वर्ग की तबाही और कम्युनिस्ट समाज
2. सामाजिक क्रांति होकर रहेगी

मुक्त प्रतियोगिता, मध्य वर्ग की तबाही और कम्युनिस्ट समाज

प्रथम सम्बोधन
8 फरवरी 1845

-फ्रेडरिक एंगेल्स

उपस्थित सज्जनों,

जैसा कि अभी-अभी आप लोगों ने सुना और जैसा कि मैं समझता हूँ कमोबेश यह बात सबको पता ही है कि हम जिस दुनिया में रहते हैं वह खुली होड़ की दुनिया है। निर्बंध प्रतियोगिता! ऐसी स्थिति में क्या यह बेहतर नहीं होगा कि हम इस 'फ्री कंपटीशन' को आर-पार देखें तथा उस विश्व-व्यवस्था पर गहरी नजर डालें जो इसी के गर्भ में जन्मी है। हमारे आज के समाज में हर आदमी सिर्फ अपने लिए काम करता है। अगर वह संघर्ष भी करता है तो केवल अपनी समृद्धि के लिए; उसे इस बात से रती भर कोई मतलब नहीं कि बाकी और सब क्या कर रहे हैं? सुसंगत संगठन या संसाधनों के वितरण वगैरह के सवाल उनके लिए बेमानी हैं। इसके उलट हरेक, दूसरे का बेहतर हड़पने की फिराक में नजर आता है। हर वक्त हर मौके का निजी फायदे के लिए इस्तेमाल ही उसका धर्म है। उसके पास यह देखने की न फुर्सत है न झुकाव कि वह इस तथ्य को देखे कि आखिरकार उसके इन निजी फायदों का दूसरों के साथ कोई सम्बंध है कि नहीं! सूरते-हाल एक पूंजीपति की याने व्यक्ति-पूंजीपति की भिड़ंत होती है दूसरे पूंजीपतियों से। ठीक इसी तरह एक व्यक्ति-मजदूर की लड़ाई है बाकी दूसरे मजदूरों से। समस्त पूंजीपतियों याने वर्ग के तौर पर उनकी शत्रुता है- तमाम मजदूरों से। जबकि इसके बदले में पूंजीपतियों के वर्ग से मजदूरों के वर्ग की भिड़न्त एक आवश्यकता बन जाती है। सबकी सबके खिलाफ इस जंग, विकट घपले और शोषण के त्रिकूट में ही आज के सरमायेदारी निजाम का सार तत्व निहित है। लेकिन मित्रों, इस अव्यवस्थित अर्थव्यवस्था वाले ढांचे में ही यह सत्य भी निहित है कि सुदूर भविष्य में ही सही लेकिन समाज विनाश के गर्त में निश्चित जा पड़ेगा। क्योंकि जो अराजकता इसकी नींव में है, यथार्थ की अवमानना और लोक-कल्याण की धुर-उपेक्षा जो इसमें आधारभूत है; इस समाज को धकेलेगी और जोरदार ढंग से प्रचंड अंतर्विरोधों को उभाड़कर रख देगी। निम्न मध्यवर्ग की बर्बादी तथा जमीन की वह व्यवस्था, जिस पर पिछली शताब्दी तक राजसत्ताएं टिकी थीं, की तबाही इस विस्फोट की पहली मिसालें मानी जा सकती हैं। रोज ही हम देखते हैं कि कैसे यह वर्ग दिन-ब-दिन पूंजी की ताकत से कुचला जा रहा है। कैसे? मसलन कपड़े सिलने वाले, लकड़ी का काम करने वाले अपने ग्राहकों को खोते जा रहे हैं। जो कभी छोटे-मोटे पूंजीपति जैसे होते थे, या सम्पत्तिशाली वर्गों के सदस्यों की जिनकी हैसियत थी वे बिल्कुल उन मेहनतकश मजदूरों की हैसियत में पहुंचते जा रहे हैं, जिन्हें हम आम तौर पर सर्वहारा वर्ग में गिना करते हैं। इन समृद्ध वर्गों की यह तबाही पेशों की उसी बेहिसाब आजादी की देन है जिसका अखंड कीर्तन आज भी चालू है। इसी कीर्तन का यह दुर्निवार दुःखद अंजाम है। यह अंजाम उन तमाम लाभों की अटलनीय परिणति है जो उस प्रक्रिया से पैदा होती है जिसमें एक बड़ा पूंजीपति सैकड़ों छोटे पूंजीपतियों पर पाटा चला देता है। यह चंद हाथों में सिमटती बेशुमार दौलत की सर्वाधिक उद्दंड और जीवंत अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति अब कोई अनजानी चीज नहीं रही। यह शोकगीत या मर्सिया कि 'दौलत दिन-ब-दिन हाथों से सिमटती जा रही है' अब बाआवाज बुलंद पढ़ा जाने लगा है याने; यह अंतर्विरोध एक तरफ चंद अमीरजादे और दूसरी तरफ करोड़ों बर्बाद इंसान का अंतर्विरोध चिलचिला रहा है। यह अंतर्विरोध इंग्लैंड और फ्रांस में पहले ही खतरनाक मोड़ तक जा पहुंचा है और हमारे देश में भी तीव्र रूप धारण करता जा रहा है। यह लाजिमी है। जब तक समाज का मौजूदा ढांचा बरकरार रहेगा; चंद लोगों के अमीर और अमीर होते जाने और करोड़ों के गरीब और गरीब होते जाने की इस प्रक्रिया को कोई ताकत रोक नहीं सकती। तीव्र होते जाना इस अंतर्विरोध की नियति है। यह तब तक तीव्र होता जायेगा जब तक कि समाज अधिक सुसंगत आधारों पर अपने पुनर्गठन की आवश्यकता को कोई रूप नहीं दे लेता।

लेकिन मित्रों, यह सब मुक्त व्यापार के दुष्परिणामों की एक झलक मात्र ही है। मतलब यह कि जब तक हर आदमी अपने उत्पादन को उपभोग की अपनी ही दृष्टि से करता है और इस तथ्य से कोई सरोकार नहीं रखता कि बाकी दूसरों का उत्पादन और उपभोग क्या और किधर है उत्पादन और उपभोग में मुखर अनुपात हीनता का बोलबाला रहेगा ही। यह तो आवश्यकता है और इसका संबंध है और तेज और तेज धुन से। यह तेजी तभी से है जब से हमारा समाज मालों का उत्पादन सुनिश्चित करता है तथा इस उत्पादन को व्यापारियों, दलालों और दुकानदारों के लिए करता है। और इसमें क्या शक है कि ये तीनों अपने फायदे पर ही गिद्ध-दृष्टि लगाये रहते हैं। फिर चाहे वितरण का ही मामला क्यों न हो। जबकि इसके उलट साधनहीन वर्ग के लिए अपना जायज हिस्सा भी प्राप्त करना लगभग नामुमकिन होता जाता है। वितरण की तरह ही उत्पादन के मामले में भी यह अराजकता लाजिमी होगी। एक उत्पादक याने मालों का निर्माता यह कैसे जान सकता है कि इस या उस बाजार में उसका कितना माल खपेगा? और अगर वह किसी तरह इस रहस्य को जान भी ले तो यह कैसे जान पायेगा कि उसके प्रतियोगी इन बाजारों में कितना माल फेंक रहे हैं? और वह जान ही कैसे सकता है, जैसा कि वह आज तक जान भी नहीं पाया कि जो माल वह फिलहाल बना रहा है वह कहाँ गिरेगा? हो सकता है कि वह इस बात का पता लगा ले कि उसके विदेशी प्रतियोगी इन बाजारों में क्या फेंकने

वाले हैं? दरअसल वह इस सबसे अनजान ही है वैसे ही जैसे उसके दूसरे प्रतियोगी अनजान हैं लिहाजा वह अनाप-शनाप उत्पादन करता है और खुद को समझाता रहता है कि “दूसरे भी तो ऐसा ही कर रहे होंगे।” उसे रास्ता दिखाने वाली एक ही चीज है- कीमतों में उतार-चढ़ाव जो कि दूर-दराज के बाजारों में इस वक्त निहायत बेमेल है याने एकदम अस्थिर! यह फर्क तो इतने में ही पड़ जाता है कि जब माल का मांग-पत्र उसे भेजा गया था और जब वह पत्र पाता है और उसी तरह जब वह माल लाद पाता है और जब उसने वास्तव में लादा तथा जब बाजार में माल पहुंच पाया- बड़ा फर्क पड़ जाता है। वहां आप उत्पादन के मामले में इस कदर अनियमितताएं पाते हैं, वहां यह नितांत स्वाभाविक है कि हरेक पल व्यवसाय में व्यवधान पड़ते रहे! जाहिर है कि यह और भी स्वाभाविक होगा कि हर उस देश में, खास जहां उद्योग अभी विकासमान अवस्था में है; कि यह सब गड़बड़ी और भी बड़े पैमाने पर हो। इस मामले में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इंग्लैंड ही पेश करता है जो कि फिलहाल औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक विकसित देश हो रहा है। व्यापार के अभूतपूर्व विस्तार के कारण सैकड़ों दलालों और कमीशन एजेंटों की जो कि माल उत्पादकों तथा उसके वास्तविक उपभोक्ताओं के बीच जबर्दस्ती घुस पड़ते हैं और जो, जर्मनी की तुलना में अंग्रेजों के मामले में खासकर, मुश्किल काम है कि वे बहुत ही मोटे तौर पर भी उस सम्बंध को जान सकें जो एक ओर मालों के भंडारों और जारी उत्पादन तथा दूसरी ओर उसके उपभोग के बीच मौजूद है। इसमें यह पेंच अलग से है कि देश से बाहर दुनिया के बाजारों में वह क्या फेंक रहा है। अगर यह सब माल उत्पादक थोड़ा बहुत जान भी लें तो भी एक ऐसा उदाहरण जुटाना मुश्किल होगा, जिसमें उसे यह पता है कि उसका माल जाता कहां है और इस तरह अंग्रेजी उद्योग की दैत्याकार उत्पादन क्षमता अचानक ही बाजारों को मालों से पाट लेती है। व्यापार की सांस रुक जाती है। फैक्टरियां या तो मौन साध लेती हैं या फिर आधा समय ही खतर-पटर कर पाती हैं। दिवालिया होने की झड़ी लग जाती है। भंडारों से माल को निकाल बाहर करना है। किसी भी कीमत पर उसे बेच डाला जाना है। और इस तरह पूंजी का एक बड़ा हिस्सा, जो कि बड़ी कोशिशों से संचित किया गया था, खो दिया जाता है। यह इस व्यापारिक संकट की कुछ अनिर्वायताएं हैं। अनिर्वायताओं की इस अभिव्यक्तियों की एक पूरी श्रृंखला इस शताब्दी के शुरू से ही इंग्लैंड में विद्यमान है और पिछले दो दशकों का अनुभव तो यह रहा है कि हर पांचवे छठे साल घटित होने लगी हैं ये बातें। साहिबान, अंतिम दो ऐसी घटनाएं 1837 और 1842 में ही होकर चुकी हैं, जिनसे आप में से कई निजी तौर पर भी वाकिफ होंगे। और अगर हमारे उद्योग भी इतने ही शक्तिशाली हो गये हैं; हमारा विक्रय यदि उतना ही विस्तृत हो चुका है जितना इंग्लैंड का याने उद्योग और व्यवसाय अगर वहीं पहुंच चुके हैं जहां वह है तो यकीन मानिए ये नतीजे हम सबको भी जरूर भुगतने पड़ेंगे। कि मौजूदा हालत में यह तो जाहिर हो ही रहा है कि प्रतियोगिता आम तौर पर उद्योग और व्यापार में अपना रंग चटक करती जा रही है। याने, व्यापार की तमाम शाखाओं में मंदी होती जा रही है। एक दुःखांत सा घटित हो रहा है। दन दनादन गिरते जाने और पूरी तरह धूल में मिल जाने के बीच का अंतर तेजी से कम हो रहा है। गति लगभग शून्य है याने जड़ता का दौर-दौरा शुरू हो चुका क्या, कहना होगा कि जड़ता आ चुकी है।

श्रीमानों इन दुःखद स्थितियों के पीछे क्या कारण है? कौन धकेलता है मध्यवर्ग को तबाही की ओर? कौन बनाता है अमीरों और गरीबों के बीच अंतर्विरोधों को तीखा? कौन फैलाता है व्यापार में मंदी। और आखिरकार कौन नष्ट कर देता है संचित पूंजी? कोई नहीं सिवाय अपने-अपने बेरहम स्वार्थ के। है न! हम सब सिर्फ अपने-अपने लिए जीते हैं। अपना उल्लू सीधा करने के चक्कर में दूसरे की भलाई को ठुकरा देते हैं। और सबके बाद जबकि हाथ पर रखे आंवाले की तरह यह प्रत्यक्ष सत्य जबकि चमक रहा है कि ‘स्वार्थ, समृद्धि और सुख व्यक्तिगत नहीं हैं। ये सभी चीजें शेष समाज में नाभिनाल बद्ध हैं। हमें यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि अपने जैसे अन्य जनों के अभाव में हम कुछ नहीं बन सकते। याने, और कुछ नहीं तो इससे यह तो सिद्ध ही है कि हमारे स्वार्थ और कुछ नहीं तो हमें एक-दूसरे के साथ बांधते जरूर हैं। मैं तो कहूंगा कि हमारी हरेक गतिविधि इसका प्रमाण देती है बावजूद इसके कि स्वार्थ कभी समरूप नहीं होते बल्कि पूरी तरह एक-दूसरे के बरखिलाफ होते हैं। फिर भी वे ही समाज की मूर्ति गढ़ते हैं। इसे न समझना एक आधारभूत भूल थी हमारी जिसके नतीजे सामने हैं। यदि हम इन नतीजों को बरतकर करना चाहते हैं तो हमें इस आधारभूत भूल को सही करना होगा। और सच पूछिए तो यही है संक्षेप में कम्युनिस्ट का लक्ष्य।

कम्युनिस्ट समाज में यह बात नहीं रहेगी। वहां किसी एक के स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ के मुकाबले में नहीं खड़े होते। इसके विपरीत वहां सब एक-दूसरे के साथ बंधे हैं। कारण? उसकी जड़ प्रतियोगिता वहां कट चुकी है। लिहाजा यह सच्चाई अपने आप सिद्ध हो जाती है कि वहां किसी वर्ग विशेष के इस तरह बर्बाद हो जाने का फिर दूर-दूर तक कोई सवाल ही नहीं उठता। जाहिर है कि अमीर और गरीब जैसे भेद भी वहां नहीं होंगे जैसे कि आजकल मौजूद हैं। जैसे-जैसे निजी फायदे, केवल अपने को समृद्ध करने का उद्देश्य छूटता जाता है, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण को इससे मुक्ति मिलती है; व्यापार का वह संकट खुद-ब-खुद गायब हो जायेगा। कम्युनिस्ट समाज में यह सुगमता से हो जायेगा कि दोनों बातों का पता रहे- कितना उत्पादन करना है और कितना उपभोग होना है? कैसे? क्योंकि हम जानते हैं कि प्रति व्यक्ति औसत आवश्यकता क्या है? यदि यह जानते हैं तो यह भी जाना जा सकता है कि एक-से-अधिक लोगों के लिए कितना चाहिए? और तब जबकि उत्पादन व्यक्तिगत हाथों से निकलकर समुदाय के और उसकी प्रशासकीय संस्थाओं के हाथों में होगा, आवश्यकतानुसार उत्पादन को लागू करना बहुत मामूली बात रह जायेगी।

इस तरह हम देखते हैं कि कैसे वर्तमान समाज की विकराल बुराईयां कम्युनिस्ट समाज में हवा हो जाती हैं। यदि हम थोड़ा और गहराई में जाकर देखने की कोशिश करें तो हम पायेंगे कि ऐसे सामाजिक संगठन के लाभ केवल यहीं तक सीमित नहीं हैं। यह संगठन तो तमाम बुराईयों के मेजबान उस सामाजिक आधार का ही सफाया कर देता है। आज मैं अपने आपको केवल आर्थिक अव्यवस्था तक ही सीमित रखूंगा। और केवल इसी आर्थिक दृष्टिकोण तक अपने को सीमित रखकर देखें तो समाज का मौजूदा निजाम निश्चित रूप से बेतुका है और अव्यावहारिक है। स्वार्थों की ये अंध टक्करें इस बात का सबूत देती हैं कि श्रमशक्ति का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस तरह प्रयोग में लाया जा रहा है कि समाज को कोई लाभ नहीं हो सकता। इसका मतलब यह है कि पूंजी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बेकार में ही तबाह किया जा रहा है क्योंकि वह अपने पुनरुत्पादन के लिए कहीं भी शामिल नहीं हो पाता। व्यापारिक संकटों के मामले में हम इसे पहले ही देख चुके हैं। हम देखते हैं कि माल उत्पादनों का बड़ा हिस्सा जिसमें कि जाहिर है श्रम की बड़ी मात्रा खर्च हुई है, महज उन कीमतों पर लुटा दिया जाता है जिनसे व्यापारी को घाटा हो रहा है। हम यह भी देखते हैं कि कैसे पूंजी का बड़ा हिस्सा जो कि बड़े प्रयत्नों से संचित किया गया था, अपने मालिकों की आंखों के सामने से गायब हो जाता है। नतीजा वही दीवाला पिटने लगता है। अब जरूरी है कि हम लोग थोड़ा विस्तार से व्यापार के इस संकट को जांचें। जरा सोचिए किन हाथों से गुजरता हुआ माल वास्तविक उपभोक्ता तक पहुंचता है। मेहरबानी करके सोचिए जनाब। कितने-कितने दलाल, झांसेबाज, ठगू, बिचौलिया उत्पादन और उपभोक्ता के बीच अपना दखल जमा लेते हैं। घुस पड़ते हैं। लीजिए मैं एक मिसाल देता हूँ- कपास की एक गांठ, जिसका उत्पादन उत्तरी अमेरिका में हुआ; यह गांठ उस किसान के हाथ से सरक कर उसी जगह के या आस-पास के एजेंटों के हाथों में जा पहुंची-

मिसीसिपी के तट तक का रहा यह सफर। अब मिसीसिपी नदी से नदियों-नदियों न्यू ओरलियन्स तक यह यात्रा चली। यहां वह गांठ दोबारा बेच दी जाती है, जबकि पहली बार यह तब बिकी थी, जब एजेंट ने इसे सीधे किसान से खरीद लिया था।

यहां अब यह उस दलाल द्वारा बेच दी जाती है निर्यातक को। अब गांठ चली लिबर पूल। जहां एक और भुक्खड़ बिचौलिया इसका इंतजार कर रहा है जो इसे पहुंचते ही झपट लेता है और गड़प कर जाता है। यह आदमी फिर से इसका सौदा एक कमीशन एजेंट से करता है जो कि हमारा कयास है कि किसी जर्मन के लिए इसे खरीद लेता है और इस तरह यह गांठ रौटरडम के लिए रवाना हो जाती है याने राइन के ऊपरी इलाकों में। फिर यही प्रक्रिया दर्जनों हाथों के द्वारा पूरी होती है, कितने एजेंट इसे लादते-उतारते हैं और तब कहीं जाकर यह अभी उपभोक्ता के हाथ में नहीं, केवल निर्माता के हाथ में पहुंचती है, जो कि पहले उसे उपभोग की किसी वस्तु में रूपांतरित करता है याने कपास से जैसे धागा बनाकर किसी बुनकर के लिए देता है, जो उससे कपड़ा तैयार कर टैक्सटाइल प्रिंटर तक पहुंचाता है, जो उसका फिर किसी थोक-विक्रेता से लेन-देन करता है, जो किसी फुटकर विक्रेता से लेन-देन करता है, जो आखिर तौर पर उसे किसी उपभोक्ता को बेच देता है और लाखों की संख्या में ये जो बिचौलिये, ठग, दलाल, एजेंट, निर्यातक, कमीशन एजेंट, माल पहुंचाने वाले, थोक विक्रेता, फुटकर दुकानदार जो कि वास्तव में खाक नहीं करते, वस्तु के उत्पादन में कोई भूमिका नहीं निबाहते- सबके सब उसी पर जीना और मुनाफा हड़पना चाहते हैं।

चाहते ही नहीं वे ऐसा करते हैं। औसतन यही सब कुछ! नहीं तो वे जी न सकें। जनाबे मन। क्या कपास की गांठ को अमरीका से जर्मनी को मंगवाने का कोई और आसान और सस्ता तरीका नहीं है? क्या माल तैयार कर सीधे उपभोक्ता के हाथों में नहीं पहुंचाया जा सकता? क्या इस बेचने और सौ बार लादने-उतारने, एक गोदाम से दूसरे गोदाम तक भेजने की प्रक्रिया से निजात नहीं पायी जा सकती? क्या यह श्रमशक्ति की बहरतरह बर्बादी की मिसाल नहीं है? क्या इसके तल में स्वार्थों की वही अंध अराजकता नहीं है? एक सुसंगत रूप से संगठित समाज में इस तरह के वाहियात जटिल ढंग के यातायात की कोई जगह नहीं रहती है? अपने उदाहरण की पुष्टि में मैं पूछता हूँ कि क्या यह जानना आसान नहीं है कि कितनी कपास या उससे बने हुए माल किसी कालोनी को कितने चाहिए? यदि यह पता लगाया जा सकता है तो किसी भी केन्द्रीय सत्ता को यह निर्धारित करना भी कोई मुश्किल नहीं है कि तमाम गांवों और कस्बों या देश की जरूरतें क्या और कितनी है? यदि एक बार ऐसी सांख्यिकी तैयार कर ली जाती है जोकि बामुश्किल तमाम साल दो साल में तैयार हो ही जायेगी, उससे सालाना उपभोग का हिसाब लगाया जा सकता है। जो कि बढ़ेगा तो सिर्फ उसी अनुपात में जिसमें कि जनसंख्या बढ़ेगी। मैं कहता हूँ कि यह आसान ही होगा कि हम सही समय पर बल्कि एडवांस में यह पता रखें कि किस वस्तु की कितनी मात्रा जनता के लिए कब जरूरी होगी। सम्पूर्ण आवश्यकता को ध्यान में रखकर आपूर्ति केंद्र को सीधे एक मुश्त मांग भेजी जा सकेगी और यह मुमकिन हो सकेगा कि इसकी पूर्ति बगैर बिचौलियों-लुटेरों के हो। माल की दुलाई-उतारी तब एक प्राकृतिक और भिन्न किस्म की प्रक्रिया रह जायेगी। श्रमशक्ति की भारी बचत होगी। दलालों की पूजा पत्नी जरूरी नहीं रहेगी। तमाम छोटी-बड़ी मछलियों का सफाया हो जायेगा। यह तस्वीर का केवल एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू यह है कि इन बिचौलियों के न केवल डंक तोड़ दिये जाते हैं बल्कि उनका फायदा समाज को मिले ऐसी व्यवस्था उभर आती है। मौजूदा ढांचे में जहां वे सिर्फ हरेक को नुकसान पहुंचाने का काम ही करते हैं या ऐसा काम करते हैं जो तत्त्वतः ऊपरी या दिखावटी है। यह काम जो कि कमोबेश उनकी आजीविका का रूप ले लेता है अनेक मामलों में तो इसी से वे अच्छे खासे अमीर बन बैठते हैं। बाकायदे धन्नासेठ बन जाते हैं और इस तरह जहां वे वर्तमान में जन कल्याण के विरुद्ध जा पड़ते हैं, उस व्यवस्था में वे अपने लिए लाभदायक श्रम से जोड़ सकेंगे। वे फिर कोई भी पेशा अख्तियार कर सकेंगे और समाज के बाकायदे सक्रिय सदस्य हो सकेंगे। खाली दिखावटी या पाखंडी सदस्य नहीं। बल्कि मानव-समाज के वास्तविक अंग और समग्र सामाजिक प्रक्रिया के एक सजग अंश। जबकि, हमारा आज का समाज(पूँजीवादी समाज-सम्पादक) क्या दर्शाता है, वह इंसान और इंसान के बीच विद्वेषपूर्ण संबंधों को जन्म देता है। याने एक तरह के सामाजिक युद्ध का श्रीगणेश करता है। सबका सबके विरुद्ध युद्ध जो कि अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत मामले में, खासकर वे पढ़े-लिखों के मामले में एक क्रूर जंगली और हिंसक रूप ग्रहण कर लेता है-मतलब अपराध का। अब अपराधों से अपना बचाव करने के उद्देश्य से, सीधी हिंसात्मक कार्रवाइयों से बचने के लिए, समाज को दरकार होता है एक ऐसा तंत्र, प्रशासन की एक ऐसी जटिल प्रणाली, न्यायपालिका का ताम-झाम जिसमें अच्छी खासी श्रम शक्ति खप जाती है। जबकि कम्युनिस्ट समाज में बहुत हद तक इस सब की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती- सरलीकरण हो जाता है जटिल का। संक्षेप में यही कहा जा सकता है हालांकि फिलहाल ताज्जुब की बात ही लगती है, क्योंकि प्रशासन व्यवस्था या तंत्र उस समाज में केवल निजी मसले ही नहीं सुलझायेगा बल्कि पूरे सामाजिक जीवन को ही व्यवस्थित कर सकेगा। उसकी समस्त गतिविधियां और सभी पक्ष उसके कार्यक्षेत्र में होंगे। हम आदमी के बाकी सबों से अंतर्विरोधों के सफाये के हामी हैं। हम **सामाजिक युद्ध** की जगह विकल्प में पेश करते हैं **सामाजिक शांति**। हम सीधे अपराध की जड़ पर ही कुल्हाड़ा मारना पसंद करते हैं। लिहाजा हम सिद्ध करते हैं कि वर्तमान प्रशासनिक व न्यायिक संस्थाएं उनके महान से महान कार्य निहायत बकवास हैं। अपराधों में यह विशेषता आ गयी है कि अब जोश में किये जाने वाले अपराध याने सांवेगिक अपराध कम होते जा रहे हैं, सोच-समझकर योजनाबद्ध ढंग से किये जाने वाले अपराध बराबर बढ़ रहे हैं। स्वार्थ और अपराध अविभाज्य हैं। जबकि **व्यक्तियों** के विरुद्ध जैसे अपराध कम हो रहे हैं इसके उलट **आर्थिक मामलों** में अपराध बढ़ी बुलंदी पर हैं। सभ्यता अपने विकास के साथ-साथ सांवेगिक हिंसा संतुलित करती चलती है यहां तक कि हमारे मौजूदा समाज में भी यह काम युद्ध स्तर पर हो रहा है। लेकिन सवाल यह है- एक शांतिपूर्ण कम्युनिस्ट समाज में इन अपराधों के मामले में क्या स्थिति होगी? तय है कि संपत्ति से संबंधित सभी अपराध स्वतः समाप्त हो जायेंगे। क्योंकि, हर आदमी को वहां उसकी आवश्यकतानुसार प्राप्त होगा। याने उतना मिलता है वहां जितनी किसी की भौतिक व आत्मिक आवश्यकता होती है। ला मुहाला फिर तरह-तरह की सामाजिक दर्जाबंदी और उनकी विशेषताएं गायब हो जाती हैं। जब फौजदारी और दीवानी के मामले ही नहीं रहते तो उनसे जुड़ी पूरी न्यायपालिका, उसके कर्ता-धर्ता सब फिजूल हो जाते हैं। क्योंकि इन तमाम मामलों की जड़ें तो संपत्ति के संबंधों में ही निहित हैं न! और इन्हीं कारणों से ही तो छिड़ती है सबकी सबके खिलाफ जंग। ये सब कारण जब वहां अदृश्य हो जाते हैं तो फिर ऐसी जंग भी दिखायी नहीं देती। या ये युद्ध विरल तथा अपवादस्वरूप होते हैं। जबकि मौजूदा वक्त में वे सभी विद्वेष के प्राकृतिक परिणामों के तौर पर प्रकट होते हैं। और अगर ऐसे मामले तब हुए भी तो मध्यस्थ ही उसे बड़ी आसानी से सुलझा देंगे। देखिए जरा, प्रशासकीय संस्थाओं की गतिविधियों का स्रोत वर्तमान में कहां है? दिखाई देगा- सामाजिक युद्ध की निरंतरता में। पुलिस और सम्पूर्ण प्रशासन तंत्र कुछ नहीं करता। अधिक से अधिक वह हाथ पर हाथ धरे ताकता रहता है कि यह जंग छिपी रहे और अपराध भी भीतर-ही-भीतर रहें, भड़क कर खुली हिंसा का रूप न ले लें- इसकी निगरानी करता है बस। देखिए, सामाजिक युद्ध को कुछ सीमाओं में चलने देने की जगह यदि अपरिमित रूप से शांति स्थापित करना आसान रहता है तो इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक कम्युनिस्ट समाज में प्रशासन अधिक सहज होगा बनिस्वत इस 'फ्री कंपटीशन'

पर आधारित समाज के। और सभ्यता ने जबकि मनुष्यों को पहले ही अपने स्वार्थों को तजकर जन सेवा करने, लोक कल्याण की व्यवस्था करने और जनता की हिफाजत करने जैसे महत्वपूर्ण पाठ पढ़ा दिये हैं; जिनके चलते पुलिस, प्रशासन और न्यायपालिका सब महज पाखंड रह जाते हैं; तब सोचने की बात है कि उस उच्च समाज में जिसमें कि आधारभूत सिद्धांत ही होगा सामुदायिक विकास और जिसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वार्थ मिलकर एक-एक हो जायेंगे; क्या कहना होगा तब। बेहतर तो पहले से ही मौजूद है याने इन महत्वपूर्ण पाठों का होना- जबकि सामाजिक संगठन से इन पाठों का कोई संबंध नहीं है, फिर भी प्रभावी हैं, यह सब तब कितना भव्य हो उठेगा, जब इसकी राह में कोई रुकावट ही न रहेगी। और आज के निजाम के बखिलाफ तब की सामाजिक संस्थाएं स्वयं आगे बढ़कर इसे शक्ति प्रदान करेंगी। इस प्रकार हम श्रम शक्ति में महत्वपूर्ण वृद्धि को रेखांकित करते हैं। साथ ही हम यह भी दिखाना चाहते हैं कि श्रमशक्ति के इस हिस्से से मौजूदा निजाम किस तरह वंचित है। वर्तमान समाज की सबसे महंगी संस्थाओं में से एक हैं सुरक्षा बल। हथियार बंद फौजा इनसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता और जिनके रूप में समाज जनता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्से का कोई उपयोग करने से वंचित रहता है। कोढ़ में खाज यह कि उल्टे समाज इनके भरण-पोषण के लिए विवश है। जाहिर है कि यह नितान्त अनुत्पादक हिसाब-किताब है। बंजर! हम अपने ही बजट से यह जानते हैं कि एक स्थायी सेना रखने में कितना खर्च आता है। कम-अज-कम 24 लाख सालाना। शस्त्रों और उनकी प्रणालियों पर लाखों अलग से। किसलिए? क्या देश में अमन कायम करने के लिए! जैसा कि हम जान चुके हैं कि उच्च समाज में तो शांति को भंग करने की जरूरत ही नहीं रहेगी। आप कहेंगे लेकिन क्रांति का डर तो रहेगा। बेशक, मगर वह तो स्वार्थों की अंध टक्करों का ही तो नतीजा होती है! जब सबके स्वार्थ ही सामाजिक हो गये तो फिर इस तरह के डर का अर्थ? आप कहेंगे आक्रमणों के लिए? लेकिन सवाल यह है कि एक कम्युनिस्ट समाज ऐसे आक्रमण का विचार भी कैसे ला सकता है? हमला करना? नामुकिन!!

यह समाज तो परम जाग्रत है। उसे पता है कि युद्ध में सिर्फ जानें जाती हैं और पूंजी बर्बाद होती है और प्राप्ति के नाम पर हासिल होते हैं कुछ अद्द प्रदेश; जो सामाजिक व्यवस्था को सिर्फ तहस-नहस कर सकते हैं! फिर क्या आत्मरक्षा के लिए! मान भी लें तो भी उसके लिए स्थायी सेनाओं की जरूरत नहीं है। उसकी जगह यह ज्यादा आसान होगा कि हर तंदुरुस्त सदस्य को इसके लिए ट्रेनिंग मिल जाये। यह फर्ज वह अपने देश से अलग निभायेगा। याने हकीकत में बैरक-ग्राउंड में ही हथियार नहीं चलायेंगे कुछ चुनिंदा लोग बल्कि सभी चलायेंगे और तब तक; वहां तक; जिस सीमा तक जरूरी लगेगा, देश रक्षा की दृष्टि से। और महाशयों, इस पर भी सोचो कि युद्ध फिर एक ऐसी घटना होगी जो कि कम्युनिस्ट विरोधी राष्ट्रों के विरुद्ध ही रह जाती है।

ऐसे सामाजिक संगठन की पितृभूमि वास्तविक होती है। उनका घर और देश सच्चा होता है। वे इसकी रक्षा करते हैं और इसी वजह से उनमें होता है लड़ने का जोश। जख्म खाने की ताब और बहादुरी। जिसके आगे आधुनिक सेना के भाड़े के टट्टू मशीनी सिपाही कुट्टी की तरह कट-कटके गिर पड़ेंगे। जरा सोचिए तो 1792 से 1799 के बीच क्रांतिकारी सेनाओं के प्रचंड उत्साह ने कैसे गजब ढाये थे। जबकि उनके पास महज एक स्वप्न था-!! "पितृभूमि की एक झलक के लिए!" फिर आपको यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह सेना इस भाड़े की सेना से अधिक प्रचंड और सशक्त होगी। क्योंकि वह महज एक स्वप्न के लिए नहीं बल्कि ठोस यथार्थ के लिए लड़ेगी। इस प्रकार श्रम शक्ति के ये व्यापक हिस्से जिनके उपयोग से सभ्य राष्ट्र; स्थायी सेनाओं के रूप में वंचित रह जाते हैं- यही श्रम शक्ति कम्युनिस्ट समाज में, वापस समाज में मिल जायेगी। वहां वे केवल अपने उपभोग के लायक ही उत्पादन नहीं करेंगे बल्कि इस योग्य हो जायेंगे कि सार्वजनिक भंडारों के लिए अनेक वस्तुओं के उत्पादन और पूर्ति में उनका हिस्सा होगा। याने यह सहयोग उनका अपनी जरूरतों से अलग दूसरों के लिए होगा। श्रम शक्ति की बर्बादी की एक और बदतरीन मिसाल हमारे समाज में यह देखने में आती है कि कैसे अमीरजादे अपनी सामाजिक हैसियत का फायदा उठाते हैं। मैं यहां उन तमाम वाहियात तड़क-भड़क और ऐसे इशारत के सामान के बारे में कुछ नहीं कहूंगा जो सिर्फ अपने वैभव प्रदर्शन के लिए जमा किया जाता है और जिसमें श्रम शक्ति का एक बड़ा हिस्सा खाक में मिला दिया जाता है। लेकिन श्रीमानों! आप जरा इनके घरों में तो घुसें! यज्ञ-मण्डप जैसे 'पवित्र' अंतपुर: में। और मुझे बतायें कि क्या यह श्रम की मूर्खतापूर्ण बर्बादी का नमूना नहीं है कि दसियों इंसान एक आदमी के लिए जिन्दगी जी रहे हैं? कुछ नहीं तो नबावजादे का इंतजार ही हो रहा है। अगर इसे दार्शनिक ऊंचाई पर कहा जाये तो कहना होगा कि ये इंसान सब के सब काम में लगे हैं जो उस एक नबावजादे की चौहद्दी में बंद कर अकेला बना देता है। दुनिया जहान से काट देता है। दासियों, बावर्चियों, टहलुओं, गाड़ीवानों, धरेलू नौकरों, मालियों और तमाम लग्गू-भग्गू कामदारों की पूरी हेड़ की हेड़ असल में करती क्या है? सिर्फ चन्द लम्हे हासिल करने के लिए! वे लम्हे; जिनमें उनके आका बस खीसें निपोर दें। अपनी जन्मजात योग्यताओं मानवीय प्रकृति वगैरह सबकी सार्थकता और विकास बस ये ही चंद लम्हे!

इसके अलावा दिन के कितने घंटे वे फिजूल के कामों में लगा देते हैं। ये काम भी जिनमें वे अपने लिए खपा देते हैं बदतर सामाजिक संगठनों की ही उपज तो हैं। साहब की बग्घी जा रही है जनाब पीछे खड़े हैं पकड़े हुए। या मालिकों की सनकों को पूरा कर रहे हैं और कुछ नहीं तो उनके पिल्ले को गोद में लिए 'कू-कू' पुत-पुत कर रहे हैं और भी ऐसे ही ठठकरम! एक अधिक सुसंगत रूप से संगठित समाज में जहां हर इंसान अमीरजादों की सनक और भड़वागीरी किये बिना बाइज्जत जी सकेगा और ऐसी सनकों में खुद को मुब्तिला नहीं करेगा। उस समाज में यह श्रम शक्ति जो आज ऐशो-इशरत पर बर्बाद कर दी जाती है, उसे नेचुरली खुद उसके व दूसरों के भले के लिए इस्तेमाल किया जा सकेगा। श्रम शक्ति की बर्बादी का एक और नमूना हमारा समाज यह दिखाता है कि खुली प्रतियोगिता के सीधे नतीजे के तौर पर उन साधन हीन अकिंचन मजदूरों को पेश करता है जो बाखुशी काम करना चाहेंगे मगर काम उन्हें नहीं दिया जायेगा। जब समाज का गठन ही ऐसा है कि श्रम शक्ति के सही उपयोग की तरफ ध्यान देने की कोई जरूरत ही महसूस नहीं की जाती और हर आदमी के हाथ में यह परवाना थमा दिया जाता है कि वह सिर्फ अपना उल्लू सीधा करे, यह भी फिर बिल्कुल स्वाभाविक हो जाता है कि जब वास्तव में और स्पष्टतः प्रकट रूप में कार्यों का याने साधनों का वितरण किया जाये तो सैकड़ों हजारों-मजदूर देखते रह जायें। मामला ही यह बन जाता है कि फ्री कंपटीशन हरेक को मजबूर कर देता है कि हरेक अपनी पूरी ताकत से सूंत ले जो सूंत सकता हो। जो भी फायदे दिखाई दें हडप डाले। सम्मानित श्रम शक्ति को सस्ती श्रमशक्ति में बदल दे जिसके लिए विकासमान सभ्यता सैकड़ों साधन जुटाती है।

दूसरे शब्दों में हर कोई दूसरों को निर्बाध रूप से वंचित करने की कीमत पर अपना मुनाफा बटोरे। हर साधन है क्या? श्रम शक्ति का ही एक संचित रूप तो है। कहीं से खारिज कहीं पर दाखिल! लिहाजा हर समाज में, सभ्य समाज में बेरोजगारी का बढ़ना लाजिमी है। ऐसे मजदूरों का होना लाजिमी है जो सहर्ष काम करना चाहें तो लेकिन काम उन्हें देगा कोई नहीं। और जितनी सोची जायेगी हमेशा उससे ज्यादा निकलेगी तादाद उनकी। ला मुहाला, हम देखते हैं कि उनका पतन हो जाता है। वे नीच कर्म पर उतर आते हैं। भिखारी बन जाते हैं या सड़क छाप कुछ भी, सफाई करने वाले या ऐसे ही और कुछ कभी-कभी छोटे-मोटे काम लपकने में वे कामयाब हो जाते हैं या कुछ झटक लेते हैं फेरी-फूरी लगाकर और कुछ समय के लिए अपनी नंग-धडंग देह और आत्मा को ढंक लेते हैं। अभी मैंने देखा कि कुछ गरीब लड़कियां, इसी शाम को अपना गिटार पकड़े बजाती-गाती फिर रही थीं। महोदय, ये तमाम वंचित जन जिनके

लिए और कोई रास्ता नहीं है सिवाय अपने को बेच डालने के चाहे इस रूप में हो चाहे उस रूप में बढ़ते ही जाते हैं। हमारे “निर्धनोद्धार अधिकारी” इसके बारे में बेहतर बता सकते हैं- लेकिन न भूलें कि समाज इन सबों के भरण-पोषण का कोई इंतजाम नहीं करता सिवाय उनकी अनुपयोगिता बढ़ाने के। अगर फिर भी समाज को इनके अस्तित्व को बरकरार रखने की कीमत देनी ही है, तो संभव बनाना चाहिए कि ये बेरोजगार बाइज्जत कुछ करने लायक बनें। लेकिन अपना यह खुली होड़ वाला समाज तो ऐसा करने से रहा।

यदि आप साहिबान इस सब पर सोचने की मेहरबानी करें, मेरे मित्रों- और इसके मैं और भी सैकड़ों उदाहरण दे सकता हूँ कि मौजूदा समाज कैसे श्रमशक्ति को बर्बाद करता है। अगर आप इस पर सोचने की जहमत उठाएँ तो आपको पता चलेगा कि मनुष्य-समाज ऐसी उत्पादन शक्तियों को व्यवस्थित करने का लक्ष्य त्याग चुका है और अधिक सुसंगत संगठन की प्रतीक्षा कर रहा है जिसमें वितरण नियमित हो और सभी का कल्याण सुनिश्चित हो। इसे देख लेने के बाद आप इस योग्य होंगे कि फैसला कर सकें कि यह डर कितना फिजूल है कि सामाजिक सक्रियता का ऐसा इसाफ लोग झेल नहीं सकेंगे कि यह श्रम का भार उन्हें कुछ करने लायक न छोड़ेगा। मामला इसके बिल्कुल उलट है। हमारा ख्याल है कि इस तरह के सुसंगत सामाजिक संगठन में आजकल परम्परागत रूप से एक आदमी को जितनी देर श्रम करना पड़ता है उसका लगभग आधा रह जायेगा और उस आधे का जो या तो इस्तेमाल नहीं किया जाता या गैर फायदेमंद कामों में लग जाता है, उपयोग हो जायेगा।

और कम्युनिस्ट सिद्धांतों पर आधारित समाज की देन यहीं तक सीमित नहीं है कि बस इस बर्बाद श्रमशक्ति का उपयोग हो। एक महत्वपूर्ण बात है यह- एकमात्र नहीं। सबसे बड़ा कारनामा तो यह है कि श्रम शक्ति के नियोजन का निजी आधार खत्म हो जाता है। वह सीधे सामाजिक सामूहिक शक्ति का अभिन्न अंग बन जाती है तथा उससे जुड़ा हुआ, विद्वेषपूर्ण स्वार्थ सम्बन्धों पर टिका हुआ समाज भक से जल जाता है। अब मैं **श्री रावर्ट ओवेन** के प्रस्तावों के संदर्भों में अपने मत को प्रस्तुत करना चाहूँगा। वे एक अंग्रेज समाजवादी हैं उनके सुझाव बेहद व्यावहारिक हैं और बाकायदे लागू किये जा चुके हैं। श्री ओवेन का सुझाव है कि वर्तमान शहरों और गांवों में लोग अपने-अपने मकानों का निर्माण करते हैं जो कि जहां भी दिल आता है बना लिये जाते हैं। उनके बिखरे मकानों की जगह हमें विशाल भवनों का निर्माण करना चाहिए जो 1650 फुट लम्बाई और इतनी ही चौड़ाई के एक चौकोर मैदान में बनाये गये हों जिसमें कम से कम 2 से 3 हजार लोग तक रह सकें। बीच में एक विशाल पार्क। साफ है कि ऐसी इमारत, इसमें रहने वालों को वे सभी सुविधाएं प्रदान करेगी जो कि समकालीन भवन-निर्माण के समस्त स्तरों को स्पर्श करती हैं। सस्ती बनेगी यह बात अलग से। जबकि वर्तमान समाज-प्रणाली में इतने लोगों के रहने के लिए किस कदर अधिक विस्तृत भूमि और साधन चाहिए होंगे यह आप देख ही सकते हैं। अनुभव यह है कि हर बड़े घर में कुछ कमरे हमेशा खाली पड़े रहते हैं या साल में एक-दो बार ही उनका मुहूर्त निकलता है। यहां उनकी एकदम कोई जरूरत नहीं होगी और बगैर दिक्कत के वे गायब हो जायेंगे। स्टोर रूम या भंडारियों बगैरह के फालतू हो जाने से जगह की खासी बचत होगी। लेकिन यह सब तब होगा जब हम धरेलू अर्थव्यवस्था पर गहन चिन्तन करेंगे। तभी सामुदायिक गृहनिर्माण के लाभों को ले पायेंगे। श्रम शक्ति और सामग्री का कितना बड़ा हिस्सा वर्तमान निजी मकानों के निर्माण में फिजूल खर्च हो जाता है- खासकर उन्हें गर्म रखने में। हर कमरे को आजकल अलग-अलग आतिशदान चाहिए। हर स्टोव विशेष रूप से गर्म हो। हर वक्त जलता रहे। एक आदमी उसकी निगरानी पर ही रहे। तमाम जगहों से बटोरकर उसके लिए ईंधन लाया जाए। राख बटोरो, और कहीं फेंकने की जगह ढूंढो। इस सवाल की जगह यह कितना सीधा और सस्ता हिसाब-किताब होगा कि इस लफड़े की जगह याने अलग-अलग घरों को गर्म रखने की जगह बड़े पैमाने पर एक ही बिल्डिंग को गर्म रखा जाये। मतलब सेंट्रल हीटिंग! एक बड़ा केन्द्र हो जो गर्मी पैदा करे। याने आग पहुंचाने की व्यवस्था पाइपों के जरिए की जाये जैसा कि आम बड़ी सार्वजनिक इमारतों में होता है- जैसे फैक्ट्रियों में, चर्चों वगैरह में। इसी तरह गैस की रोशनी का मामला देखें। आजकल यह भी खासी महंगी पड़ती है। कैसे? सिस्टम यह है कि पहले पतले-पतले पाइपों का जमीन के अंदर जाल डालना पड़ता है और तमाम शहर को रोशन करने के लिए उन्हें आड़ा-तिरछा बनाना पड़ता है। इसमें बहुत सा पाइप बेकार चला जाता है। जबकि इस प्रबंध का प्रस्ताव हमने किया है, उसमें हर चीज का इंतजाम उसी 1650 फुट लम्बे और उतने ही चौड़े स्थान को ध्यान में रखकर करना होगा। साफ है कि वहां सैकड़ों की तादाद में गैस स्टोव मारे-मारे नहीं फिरेंगे। नतीजा बहसूरत सामाजिक दृष्टि से फायदेमंद ही निकलेगा। अर्थात् एक खूबसूरत नियोजित नगर। और सुनिए, भोजन के मामले का जहां तक ताल्लुक है- देखिए, फिलहाल कितनी जगह की बर्बादी होती है। तमाम लबाजमात और बेकायदा मेहनत खर्च होती है। आज के सिस्टम में हरेक का अपना-अपना हिसाब। सब अपनी-अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकायेंगे। सबके अपने बर्तन-भाड़े, अपने बावर्ची और सबका अलग-अलग बाजारों से अपना-अपना सामान लाना या बगीचों में उगाना गरज यह कि कसाई से लेकर रसोइये तक सबकी अलग-अलग दुनिया। बड़े आराम से यह कल्पना कर सकते हैं आप लोग कि मौजूदा सिस्टम में भोजन पकाने और प्रस्तुत करने की निजी प्रणाली में जितनी श्रम शक्ति खर्च हो रही है कम्युनिस्ट समाज में इसमें से कम से कम दो तिहाई बच रहेगी।

और यह जो एक तिहाई खर्च होगी जिसका कि मौजूदा ढांचे में कोई भी दूसरा इस्तेमाल नहीं होता, उस समाज में जनहित में लग सकेगी और अब अंत में, धरेलू काम-काज के बारे में कुछ बातें। क्या छोटे-छोटे दड़बों को साफ करने की जगह इस बड़े घर को स्वच्छ रखना आसान नहीं होगा या उसका रखरखाव बेहतर नहीं हो सकेगा, जबकि इस श्रम को भी नियमित और संगठित किया जा सकेगा। मैं समझता हूँ आजकल के दो-तीन सौ अलग-अलग घर साफ करने की जगह यह ज्यादा बेहतर होगा।

तो सज्जनों, ये हैं वे कुछ विचार जो असीम आर्थिक लाभों से कुछ के बारे में हैं। ये लाभ केवल मनुष्य समाज के कम्युनिस्ट ढंग पर संगठित होने के बाद ही हासिल किये जा सकते हैं। इस थोड़े से समय और चंद शब्दों में यहां अपने सिद्धांतों को समझाना और इस तरफ से उस पर प्रकाश डालना हर्गिज संभव नहीं है। और ऐसा करने का हमारा इरादा भी नहीं है। कुल जमा यानी मकसद यह है कि उन मसलों पर रोशनी डाली जाए जिससे लोग अमूमन नावाकफि हैं। उन मसलों का अभी विधिवत अध्ययन भी शुरू नहीं हो पाया है। मुझे उम्मीद है कि कम-से-कम आज शाम की इस बैठक में हम यह स्पष्ट कर पाये हैं कि कम्युनिज्म मनुष्य की प्रकृति के खिलाफ कोई चीज नहीं है। न ही उसके दिलो-दिमाग के उलट पड़ने वाली कोई चीज है। और न ही यह कोई शेखचिल्ली की कहानी है। इसकी जड़ें हैं और बाकयदे ठोस जमीन में। यथार्थ है।

लोग पूछते हैं कि यह कल्पना यथार्थ में कैसे तब्दील होगी? या हमारे पास इसे वास्तविक बनाने के लिए क्या-क्या योजनाएं हैं? दोस्तों, इस मंजिल पर पहुंचने के रास्ते अनेक हैं। यह मंजिल है। अंग्रेजों ने इस मंजिल की ओर प्रस्थान कर भी दिया है। उन्होंने ऐसी कम्युनिस्ट कालोनियां बनायी हैं और विकल्प खुला रखा है। कोई भी इस यज्ञ में शामिल हो सकता है जबकि फ्रांसिसियों ने दूसरी ओर कम्युनिज्म को पूरे राष्ट्र के स्तर पर लागू करने की पहल की है। इस बारे में मैं नहीं कह सकता कि जर्मन इसे कैसे अपनायेंगे क्योंकि जर्मनी में यह सामाजिक आंदोलन किसी कदर अभी नया है। इसी दौरान, नये रास्तों

की तलाश भी तो जारी है। मैं सिर्फ एक रास्ते के बारे में अपना मत दूंगा जिस पर यहां काफी चर्चा भी हुई है। मेरे मत से कम-से-कम तीन स्तरों पर प्रयास करने से हम इस कम्युनिस्ट समाज को रच सकेंगे।

सबसे पहले जो काम हमें अंजाम देना होगा वह यह है कि सामान्य शिक्षा की व्यवस्था की जाये। मतलब यह कि हर बच्चे को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा मिल सके। सारा खर्चा राज्य उठाये। यह शिक्षा खुद में ऐसी होगी जो सबके लिए समान होगी और तब तक दी जाती रहेगी जब तक कि हर शख्स समाज का आत्मनिर्भर सदस्य न बन जाये। इस कोशिश में यह तथ्य शामिल होगा कि वंचितों को इंसाफ दिलाने का इससे बेहतर और कोई तरीका नहीं। साफ शब्दों में कहूं तो हर शख्स को यह हक होगा कि वह अपनी योग्यताओं को परवान चढ़ा सके। किसी भी समाज का अपराध तब दोहरा हो जाता है, जब वह जनता की निरक्षरता को गरीबी के अनिवार्य परिणाम के तौर पर परोसने लगता है। क्या इसमें भी कोई शक है कि समाज को अज्ञानियों की जगह ज्ञानवानों से ही फायदा पहुंचता है। अशिक्षितों से क्या हासिल? यह उम्मीद की जानी चाहिए कि एक सुशिक्षित मजदूर को शोषित अवस्था में देर तक नहीं रखा जा सकता जैसा कि आजकल वह पड़ा रहता है। शांति और संयम जो कि सामाजिक बदलाव में बहुत जरूरी है उनकी उम्मीद आप सिर्फ पढ़ी-लिखी जनता से ही कर सकते हैं। लेकिन भाई, इसका यह मतलब न लगा लें कि बेपढ़ा-लिखा मजदूर वर्ग जो आजकल बहुतायात में है, वह अपनी इसी दशा को पसंद करता है। जर्मनी की ही मिसाल लीजिए- दूसरे मुल्कों की बात फिलहाल छोड़ें तो - बिल्कुल बर्दाश्त नहीं करता जर्मनी का मजदूर वर्ग इन हालात को! मिसालें सामने हैं- **साइलेशिया और बोहेमिया!**

दूसरा महाप्रयत्न हमें यह करना होगा कि इस 'निर्धनाद्धार तंत्र' को आमूल-चूल बदलना होगा। पूर्ण पुनर्गठन। ताकि तमाम साधनहीन लोग कॉलोनियों में बाकायदा घरों में अपनी जिन्दगी बितायें। उनके श्रम का पूरा-पूरा इस्तेमाल किया जायेगा। वे खेती करेंगे। उद्योगों में लगेगे वे और उनकी मेहनत पूरी कॉलोनी के फायदे के लिए इस्तेमाल की जायेगी। हाल यह है कि गरीबों की मदद के लिए जो रकम है वह पूंजी बन चुकी है। इस वक्त तो चालीस हो रहा है सूद-दर-सूद! और इस तरह अमीरों के हाथ में साधनहीनों को चूसने का एक नया हथियार हाथ आ गया है इस तंत्र के रूप में। भाई, कम से कम इस पैसे को तो गरीबों की भलाई में लगाने दो। इस पूरी पूंजी का इस्तेमाल उन्हीं के हित में हो जाने दो न कि इसके तीन फीसदी ब्याज मात्र को जो कि आजकल चल रहा है और इस तरह पूंजी और श्रम की एकता कायम करो! मैं सोचता हूं इस तरह तमाम वंचितों की श्रम शक्ति समाज की भलाई में जुट सकेगी। सोने में सुहागा यह होगा कि वंचितों की खुद में काया पलट हो जायेगी। वे नैतिकता विहीन दमित निर्धनों की श्रेणी से निकालकर नैतिक और आत्मसजग सक्रिय बन जायेंगे। बहुत जल्द उनका जीवन ईर्ष्या करने लायक स्तर तक उठ जायेगा। अलग-अलग पड़े लोग उन्हें देखकर अश-अश कर उठेंगे। ये 'नये' लोग ही इस समाज का पूरा ढांचा नये सिरे से सिरजेंगे याने वही सम्पूर्ण पुनर्गठन।

जाहिर है कि ये दोनों काम फ्री में नहीं होंगे। बहुत रकम चाहिए होगी। इसे जुटाने के लिए और उसी के साथ सब कुछ बदल डालने के लिए हम अन्यायपूर्ण करों को उगाहने की जगह एक सुधार योजना पेश करते हैं। याने करों को पूंजी के अनुपात में ही लगाया जाये। उनकी दर पूंजी की वृद्धि दर से जुड़ी हो। इस तरह लोक प्रशासन का जो भार है वह हरेक अपनी योग्यता के अनुसार बांट लेगा। और यह सीधा ऊपर से उनके कंधों पर जाकर नहीं गिरेगा जो इसे उठाने में सर्वथा असमर्थ हैं जबकि तमाम देशों का चलन यही हो रहा है। आपको पता हो शायद यह जो कराधान का सिद्धांत है आखिरकार एक शुद्ध कम्युनिस्ट सिद्धांत ही है हालांकि, सभी देश इस उगाही के धंधे को खामखा 'नेशनल प्रोपर्टी' से जोड़ देते हैं जैसे कि समस्त पूंजी-निजी पूंजी-परम पावन है। कोई उसे छू नहीं सकता। शीलभंग हो जायेगा उसका जो किसी ने उसकी बात की। तो फिर, राष्ट्रीय संपदा नाम की चीज का क्या मतलब। तो फिर, सरकारों को उगाही का अधिकार कैसा? यदि वह यह अधिकार रखना चाहती है तो फिर निजी पूंजी की पवित्रता को ही भंग करना होगा। क्यों? क्योंकि नेशनल प्रोपर्टी उससे ऊंचे आसन पर विराजमान है और ठीक बात है कि 'सही स्वामी राजसत्ता ही है, पूंजी की'। यदि बाद वाला सिद्धांत जोकि सब मानते हैं-अच्छा है तो सज्जनो! मौजूदा समाज में हम यह मांग करते हैं कि इस सिद्धांत को पूरी गंभीरता से लागू किया जाये कि राज्य इस स्वामित्व का सही दावेदार बने, जैसा कि दावा करता है, और जनसंपदा को जन-हित में ही व्यवस्थित करे, जिसका सबसे पहला कदम ही यह बनता है कि यह एक ऐसी कर प्रणाली को लागू करे जो पूरी तरह से हरेक की कर देने की क्षमता पर निर्भर हो और जिसका एकमात्र लक्ष्य - "सब कुछ जनता की भलाई के लिए" हो।

साहिबान, जैसा कि आप भी देखते हैं इस सबका मतलब सामुदायिक स्वामित्व की किसी व्यवस्था को रातों-रात लागू कर देने का हमारा कोई इरादा नहीं है। हमारा देश अभी इसे पसंद भी नहीं करेगा। लेकिन राष्ट्रों की मर्जी के खिलाफ यह महज एक महान लक्ष्य की स्थापना है उसके रास्तों की खोज साधनों की प्रस्तुति है, जो उसकी प्राप्ति के लिए जरूरी है लेकिन कम्युनिस्ट सिद्धान्त ही भविष्य का सिद्धान्त होगा यह तय है। यही तमाम सभ्य राष्ट्रों की प्रगति के इतिहास की गवाही है। उनकी विकास-प्रक्रिया इसी सत्य पर मुहर लगाती है कि धीरे-धीरे मौजूदा सामाजिक ढांचे और उसकी संस्थाओं का विलोप हो जाना अटल है! सामान्य विवेक भी इसी सत्य पर मुहर लगाता है और सबसे ऊपर इंसानों के दिलों से भी यही पुकार उठती है- भविष्य कम्युनिस्ट सिद्धान्त का ही है। भविष्य हमारा है!!

(साभार : 'नागरिक' वर्ष 16 अंक 18, 16-30 सितम्बर 2013)

(साभार : 'नागरिक' वर्ष 16 अंक 19, 01-15 अक्टूबर 2013)

सामाजिक क्रांति होकर रहेगी

-फ्रेडरिक एंगेल्स

दूसरा संबोधन
15 फरवरी, 1845

मित्रो, पिछले समागम में मैंने जो अपने विचार प्रकट किये थे तो मुझ पर यह गंभीर आरोप लगाया गया था कि जो मिसालें मैंने पेश कीं तथा जो दृष्टांत मैंने दिये वे सभी विदेशों से उधार लिये गये थे विशेष रूप से इंग्लैंड से। यह भी कहा गया कि “इंग्लैंड और फ्रांस से हमारा क्या ताल्लुक। हम तो भई जर्मनी में रहते हैं। हमें तो इसी बात से मतलब रखना चाहिए कि कम्युनिज्म की जरूरत जर्मनी के लिए कैसे है? तथा उसके फायदे हमारे मुल्क के लिए क्या-क्या हो सकते हैं? हम पर यह भी दोषारोपण किया गया कि हमने कम्युनिज्म की ऐतिहासिक आवश्यकता के बारे में पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला। यह बात बिल्कुल ठीक है। इससे अधिक की वहां गुंजाइश ही नहीं थी। एक ऐतिहासिक आवश्यकता का इतने थोड़े से समय में कोई विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता, कि लिया और दो त्रिभुजों में समानता प्रदर्शित कर दी। यह तो भाई तभी संभव है जब इसका बाकायदे अध्ययन हो और सभी पहलुओं पर दूरगामी पूर्वधारणाओं पर गहन मनन करने की भी गुंजाइश हो। फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि दो मूल आरोपों का उत्तर दूँ। जितना भी मैं जान पाया हूँ उसे आपके सामने रखूँ। मैं यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि जर्मनी के लिए अगर कम्युनिज्म एक ऐतिहासिक आवश्यकता नहीं है तो कम से कम आर्थिक आवश्यकता तो है ही।

आइए, सबसे पहले हम यह देखें कि जर्मन समाज की मौजूदा स्थिति क्या है? क्या इसमें कोई शक है कि हमारे यहां गरीबी का दायरा खासा बड़ा है? अगर शक है तो साइलेशिया और बोहेमिया किस बात की गवाही पेश कर रहे हैं? अधिक जानकारी के लिए राइनिशे जीटुंग अखबार में छपी सामग्री देखें। उसमें मोजेल और ईफेल में गरीबी के विवरण छपे हैं। ईर्जेबर्ग में न जाने कब से बड़े पैमाने पर और लगातार गरीबी अपना पंजा फैलाये बढ़ रही है। सेन और वेस्टफालेन के रेशमनगरी कहे जाने वाले केंद्रों में भी स्थिति कोई बेहतर नहीं है। जर्मनी के कोने-कोने से ये आवाजें आ रही हैं और वे ही आयेंगी। इसके अलावा और आ भी क्या सकता है? हम देखते हैं कि हमारा सर्वहारा वर्ग बड़ी तादाद में है। उसे होना ही चाहिए। यह बात तो अपनी सामाजिक स्थितियों पर एक सरसरी नजर डालने से ही दिख जाती है। तथ्य तो इस सत्य में निहित हैं कि जब औद्योगिक नगर बढ़ेंगे तो कौन सा वर्ग बढ़ेगा? सर्वहारा ही तो। सवाल यह उठता है फिर कि क्या कोई उद्योग मजदूरों की बड़ी तादाद के बिना कायम रह सकता है? यह मजदूर पूरी तरह से उसी पर निर्भर हैं। उसी के लिए तो वे काम करते हैं और दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है सामने। खुली होड़ किसी भी समाज में याने औद्योगिक रोजगार किसी और रोजगार को बचा रहने देता है? छा जाता है सब पर। यही वजह है कि हम सभी औद्योगिक नगरों में बेतादाद मजदूरों को पाते हैं और उनके अस्तित्व से कौन इंकार कर सकता है? इसी के साथ अगर खेतिहर जिलों को देखा जाये तो कई श्रीमान कहेंगे देखा है वहां कोई सर्वहारा? लेकिन सवाल यह है कि क्या वहां सर्वहारा का होना मुमकिन भी है? उन इलाकों में जहां कि बड़ी-बड़ी जमीदारियां हैं, क्या बिना सर्वहारा के कायम रह सकती हैं? बड़े-बड़े फार्म क्या अपने आप चलते हैं? उसमें काम करने वाले कारिंदे, लौडियां-बादियां क्या सर्वहारा वर्ग के बिना हवा से प्राप्त हो जाते हैं? उन इलाकों में जहां कि जमीन का विभाजन जारी है, वहां भूमिहीन वर्गों को जन्म लेने से कोई रोक सकता है? जमींदारी और जमीन एक खास बिंदु तक ही बांटी जा सकती है। एक सीमा के बाद उसे और नहीं बांटा जा सकता। तब हालत क्या नजर आती है। जब एक रह जाता है वहां भूस्वामी या फार्म का मालिक तो बाकी जो बच रहे और स्वामी नहीं है वे जीव कौन हैं? भाई, वे साधनहीन मनुष्य सर्वहारा नहीं तो और कौन हैं? देखिए, मैं इसका अब खुलासा करता हूँ। जमीन को विभाजित करने की यह प्रक्रिया बढ़ते-बढ़ते उस सीमा तक जा पहुंचती है, जब फार्म कट-छंट कर इतना छोटा हो जाता है कि नामुशिकल तमाम घर का गुजारा भी ज्यों-त्यों ही चलता है। लामुहाला एक ऐसा वर्ग पैदा हो जाता है जो कि शहरी निम्न मध्यवर्ग की तरह का होता है जिसमें वर्गापसरण की प्रक्रिया चलती रहती है। साधन सम्पन्नता से साधनहीनता की ओर लगातार खिसकता रहता है। यह वर्ग जिसकी सारी मुसीबत की जड़ ये साधन ही तो होते हैं। ये साधन उसे और कोई धंधा भी नहीं करने देते और इन साधनों पर उसे जीने भी नहीं देते लिहाजा लाजिमी तौर पर इस वर्ग में भयंकर गरीबी फैल जाती है।

सर्वहारा वर्ग के बारे में यह अल्प सत्य जान लेना चाहिए कि उसकी तादाद बढ़नी ही है। उसकी तादाद बढ़ेगी ही। मध्य वर्ग में फैलती गरीबी, जिस पर कि मैंने पिछले सप्ताह के भाषण में प्रकाश डाला था, आखिरकार इस बढ़तेरी की गारंटी ही तो करती है। इस सबका निचोड़ बहुत थोड़े में यह है कि पूंजी चंद हाथों में तेजी से इकट्ठी होती जा रही है। मैं आज फिर से उन सब बातों को फिर से दुहराकर आपका समय खराब नहीं करूँगा। मैं केवल इस बात पर रोशनी डालना चाहूँगा कि कैसे ये कारण बने रहेंगे जो लगातार सर्वहारा वर्ग को दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ाते जा रहे हैं। ये नतीजे तब तक जारी रहेंगे जब तक कि यह फ्रीकंपटीशन की बीमारी बनी रहेगी। सर्वहारा वर्ग को हर हाल में केवल लगातार बने रहना है बल्कि बढ़ते ही जाना है- निरंतर। जब तक कि वह इस समाज में खतरे की घंटी बजाने में समर्थ नहीं हो जाता और मौजूदा समाज आप जानते हैं वही है कि सब अपने अपने बखार भरें और

एक-दूसरे के खिलाफ मोर्चा लगाये रहें लेकिन मैं कहता हूँ कि एक दिन आयेगा जब हमारा यही साधनहीन वंचित सर्वहारा सत्ता पर कब्जा करेगा और उस गहन अंतर्दृष्टि को भी प्राप्त कर लेगा कि इस समाज का तमाम वजन जो हमेशा उसके ही कंधों पर फेंका जाता रहा है उसे झटककर अलग कर देना है। इसके अलावा वह मांग करेगा कि वजन और हकों का बंटवारा फिर से किया जाय। इंसान की यह कुदरत है, यह उसकी नेचर में शामिल है कि वह वक्त के हिसाब से बदल जाती है। और तब कोई भी समाज में उस इंकलाबी तूफान को रोक नहीं पायेगा।

यह एक बड़ा सवाल है कि जिसे हमारे अर्थशास्त्री देखना अपनी तौहीन समझते हैं। वे इसे छूना तक नहीं गवारा करते। वे, मैं बता दूँ, इस गलतफहमी में हैं कि वितरण से उन्हें क्या लेना-देना। वे तो राष्ट्रीय संपदा के निरे उत्पादन के मामलों को ही अर्थशास्त्र समझते हैं। चलिए कुछ देर के लिए इस मुद्दे को एक तरफ रख देते हैं कि यह एक अटल सत्य है जिसका हमने अभी-अभी जिज्ञा किया कि फ्रीकंपटीशन का यह अनिवार्य परिणाम है कि सामाजिक क्रांति हो। हम उन रूपों की फिलहाल चर्चा करना चाहते हैं जिसका संबंध इस खुली होड़ वाली अर्थव्यवस्था से है। याने यह अर्थव्यवस्था इन रूपों में अपने को प्रकट करती है। देखें, जर्मनी के विकास में आर्थिक संभावनाओं के ये रूप क्या दर्शाते हैं या इन खुली होड़ के रूपों की खिड़कियों से कौन से नतीजे झांक रहे हैं?

जर्मनी का मतलब जर्मन कस्टम यूनियन। अधिक तथ्यपरक ढंग से कहूँ तो सीमा शुल्क सूची के तहत उत्पादन वाला देश। फिलहाल तो हमारी शुल्क दर इतनी नीची है कि उसे सही अर्थ में सीमा शुल्क कहा तक नहीं जाना चाहिए। यह है एक तरफ। दूसरी ओर वह इतने ऊंची हैं कि मुक्त व्यापार को जिंदा नहीं रहने देती। ऐसी परिस्थिति में तीन बातें हो सकती हैं-या तो हम इस फ्री ट्रेड की दुनिया से बाहर हो जायें पूरी तरह या उस शुल्क दर को व्यवस्थित कर अपने उद्योगों को तबाह होने से रोके, या फिर राम आसरे जैसा चल रहा है, उसे चलने दें। हमें इन तीनों संभावनाओं की परीक्षा करनी चाहिए।

यदि हम मुक्त व्यापार के हामी हैं और टैरिफ याने दरों के मामले को एक तरफ फेंक देते हैं तब तो हमारे समस्त उद्योग एक-दो गिनी-चुनी शाखा को छोड़ भ्रम हो जायेंगे, बच नहीं सकते। फिर कपास की मशीनी कताई और बुनाई का कोई मतलब नहीं रह जायेगा। सूती ही नहीं ऊनी उद्योग का भी भट्टा बैठ जायेगा। इसके अलावा हमारे अहम रेशम उद्योग और लोहा उद्योग भी इसकी चपेट में आने से बच नहीं सकेंगे। इन उद्योगों से जुड़े तमाम मजदूर कोई ताज्जुब नहीं यकायक सड़क पर दिखाई दें या इन शाखाओं से खींचकर उन्हें भी खेतिहरों में फेंक दिया जाये। जब उद्योगों का कचरा हो जायेगा तो लाजिमी है कि तमाम धरती फोड़कर गरीबी की फसलें लहलहाने लगे। चंद मुट्ठियों में पूंजी का संचय अचानक तेजी पकड़ ले और सख्त हो उठे जैसा कि साइलेशिया की घटनाएं घोषणा कर रही हैं और लामुहाला सामाजिक क्रांति की घन गर्जन सुनाई देने लगे।

एक बात। अब इसके उलट यदि हम इस टैरिफ पर निर्भर करने लगे और इसे ऊंचा उठाते चले जायें, ध्यान रहे कि यह नियति हमारे अधिकांश उद्योगपतियों की प्रेमिका है, लिहाजा इसकी और भी सावधानी से परीक्षा करनी होगी। देखिए श्री लिस्ट ने ऐसा ही सिस्टम यह कहते हुए पेश किया है कि हमारे पूंजीपतियों की आकांक्षाएं इसमें ठीक-ठीक व्यक्त हो रही हैं। तो मैं सोचता हूँ इस संभावना की इसी संदर्भ में जांच-पड़ताल करूँ क्योंकि यह सिस्टम उन सभी उद्योगपतियों का प्यारा धर्म-सा बन गया है। श्री लिस्ट का विचार है कि इस टैरिफ प्रणाली को अधिकाधिक संरक्षणात्मक बनाया जाये ताकि स्वदेशी निर्माताओं को अंतः घरेलू बाजार की गारंटी तो हो सके लिहाजा एक खास वक्त के लिए यह सीमा शुल्क प्रणाली को उसी उच्च स्तर पर बनी रहने देना चाहिए और कुछ वर्ष बाद उसे जहन्नुम का रास्ता दिखा देना चाहिए।

चलिए, कुछ देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि यह स्कीम लागू हो जाती है। और यह प्रणाली जहन्नुम भेज दी गयी, जैसा कि कहा जाता है तब क्या होगा? ऊंचे संरक्षण के कारण उद्योगों का तीव्र विस्तार होगा। निष्क्रिय पूंजी दौड़ पड़ेगी और उद्योगों में जा धंसेगी। मजदूरों की मांग जोरदार ढंग से बढ़ेगी। उसी के हिसाब से मजदूरी भी बढ़ेगी ही। गरीब घर खाली हो जायेंगे। हर तरफ विकास की हरियाली सी नजर आयेगी। यह माजरा तब तक जारी रहेगा जब तक हमारे उद्योगों का विस्तार होता रहेगा और घरेलू बाजार हमारे अपने उत्पादन से पट नहीं जाते। सवाल है इसके बाद विकास बंद। अब मुसीबत यह शुरू होगी कि राष्ट्रीय बाजार में अफरा-तफरी फैल जायेगी। क्योंकि विदेशी मालों के उत्पादन की झोंक आप संभाल नहीं सकते। यहां तक कि जिन बाजारों में कंपटीशन नहीं है वहां भी इस विदेशी माल की ललकार सुनाई पड़ेगी। कुछ नहीं कर सकेंगे तब आप इसके खिलाफ। लेकिन अब मिस्टर लिस्ट क्या फरमायेंगे? यहीं न कि देश के बाजार की स्थिति इतनी मजबूत हो चुकी होगी कि उसे संरक्षण की जरूरत नहीं रहेगी और दर का घटते जाना भी व्यापारिक दृष्टि से लाभकारी ही रहेगा। चलिए, हम उनके इस मत को भी मान लेते हैं। अब टैरिफ का कोई लफड़ा नहीं। याने संरक्षण इस सीमा तक उठा दिया गया है याने एक बारगी नहीं तो दूसरी तीसरी बार में घटाते-घटाते अब उड़ गया है। संरक्षण में विकास हो चुका। स्थिति मजबूत। लेकिन खत्म होते ही? विदेशी उत्पादन सिर पर आ खड़ा होगा। कम से कम इंग्लैंड का उद्योग तो जर्मन बाजार को धमका ही सकता है। श्री लिस्ट की भी यही खाहिश है। लेकिन मित्रों इस सबका नतीजा क्या होगा?

उसी वक्त से जर्मन उद्योगों को निबटना पड़ेगा इंग्लैंड के उत्पाद से। उनके उतार-चढ़ावों से। संकटों से। यह चक्रव्यूह ऐसे रचा जायेगा कि जैसे ही समुद्र पार के मुल्कों के बाजार अंग्रेजी माल से लद जायेंगे अंग्रेज अपने तमाम फालतू स्टॉक को जर्मनी के बाजार में फेंकना शुरू कर देंगे। क्यों? जाहिर है कि यही बाजार उनके सबसे करीब पड़ता है। और चौंके नहीं आजकल भी यही मामला चल रहा है और जैसा कि जनाब लिस्ट साहब ने अपनी रिपोर्ट में बड़े भावनात्मक ढंग से इसका जिज्ञा भी किया है। इस प्रणाली के उड़ जाने से इस तरह जर्मन कस्टम यूनियन की हैसियत सिर्फ सेकेंड हैंड शॉप की सी हो जाती है। फर्स्ट हैंड है ब्रिटिश उद्योग वह तो जी उठता है उलटा, क्योंकि आज पूरी दुनिया के बाजारों पर उसका कब्जा है। इसका दूसरा पहलू यह है कि पूरी दुनिया का भी गुजारा उसके बिना नहीं है। जबकि हमारे जर्मन उद्योग की हालत यह है कि यह अपने राष्ट्रीय बाजार पर भी काबिज नहीं हो पा रहा। इसे हर वक्त अंग्रेजी माल का भूत सताता रहता है। वह अपने घर में ही अंग्रेजी माल की झोंक को संभाल नहीं पा रहा। संकटकाल के दौरान इस माल ने हमारे उपभोक्ताओं को ग्रस लिया था। अब हमारे उद्योग के सामने यही रह जाता है कि वह ब्रिटिश माल की तलछट का आनंद है। हर पल अंग्रेजी माल के दबाव को महसूस करे और अगर योग्य हो भी पाये तो सिर्फ इतना कि उस माल की थांय-थांय में यह भी कुछ पिट-पिट करे। कोढ़ में खाज यह कि जो हालत इस वक्त हमारी है उससे बेहतर आगे भी नहीं होने वाली। सीधे-सीधे अपनी बात पर आऊं तो अंतिम परिणाम यही होगा कि उस निराशा का पिंड न छूटे जिसकी छांव तले हमारे अर्द्ध संरक्षित उद्योग चल रहे हैं। हर शाखा में एक बार के बाद दोबारा किसी नये उद्योग के आने की नौबत ही न आये। हमारी मशीनें रह जायें बाबा आदम के जमाने की और हम उन्हें नई और बेहतर मशीनों से बदल न लें। उत्पादन में जड़ता आ जाये, फिर धीरे-धीरे आखिरी सांसे गिनी जायें और फिर जैसा कि श्री लिस्ट फरमाते हैं एक के बाद एक उद्योग मरना शुरू कर दें कुल जमा मामला ठप्प। तब भी इस सत्य से सामाजिक क्रांति होकर रहेगी

आपका पिंड न छूटेगा कि सर्वहारा की तादाद बढ़ती जायेगी। क्योंकि ये उद्योग तो उसे कभी का पैदा कर चुके। इस विशाल वर्ग के पास खोने के लिए कुछ नहीं होगा। करने के लिए भी कुछ न होगा और तब मेरे दोस्तो! साहिबानो!! यह वंचित जनशक्ति सरमायेदारों से टकरायेगी कि नहीं? काम और रोटी की मांग को लेकर यह जंग होकर रहेगी। अटल है यह सत्य!

यह सब होगा तब जब शुल्क-संरक्षण प्रणाली का कोई शिकंजा नहीं रहेगा। अब थोड़ी इसके उलट कल्पना कीजिए कि वह प्रणाली खत्म नहीं होती है बल्कि चालू रहती है। तब क्या होगा? तब तक इंतजार किया जायेगा जब तक कि समस्त राष्ट्रीय उद्योग परस्पर प्रतिस्पर्धा में खाकीन होते-होते खात्मे की तरफ बढ़ने लगें। याने इस सूरत में जर्मन इंडस्ट्री की हालत यह हो जायेगी कि वह खुद-ब-खुद जल्द-अज-जल्द जड़ता की गोद में जा सोयेगी। नये उद्योगों की जरूरत ही नहीं रहेगी। क्योंकि जो हैं वे घर की खपत को तो पूरा कर ही देंगे लेकिन जैसा कि मैं बता चुका हूँ नये बाजारों में हम कोई दखल नहीं जमा सकेंगे। जाहिर है कि संरक्षण के चलते यह संभव ही नहीं हो सकता। लेकिन यह अकाट्य है कि जो उद्योग अपना विस्तार नहीं कर सकता, वह अपना विकास भी नहीं कर सकता। वह कहीं भी गति नहीं कर सकता- न अंदर न बाहर। यह भी फिर इससे जुड़ी हुई बात ही है कि ऐसी अवस्था में मशीनों के विकास का भी कोई सवाल नहीं रह जाता। तभी मशीनें लगेंगी नहीं और पुरानी आप खुरच कर फेंक नहीं सकेंगे और जब उद्योग ही नहीं रहेंगे तो मशीनों का इस्तेमाल खुद-ब-खुद बंद हो जायेगा। होगा यह कि इसी बीच दूसरे देशों की चढ़ बनेगी।

दूसरे देश मारेंगे मैदान और हम चलेंगे ठहराव से बर्बादी की और! जबकि अंग्रेज पहले ही मोर्चे पर आगे रहने के कारण इस हालत में होंगे कि और सस्ता माल बनायें और हमारे पिछड़े उद्योगों के मुकाबले ताल ठोककर कूद पड़ें और हमारे अपने बाजार में संरक्षण तंत्र के बावजूद हमें कसकर पटखनी दे दें क्योंकि इस मामले में भी वही सदाबहार सिद्धांत काम करता है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस! फिर वही स्थिति आ जायेगी जिस पर मैं बराबर जोर दे रहा हूँ कि इस तरह जबर्दस्ती पैदा हुआ सर्वहारा वर्ग फिर उद्योगपतियों से वही मांगे रखेगा, जिनकी वजह से वे उद्योगपति उद्योगपति बनते रहे हैं। वे इन मांगों को पूरा कर नहीं सकेंगे और फिर वही अटलनीय सामाजिक क्रांति दरवाजे पर आ धमकेगी!!

तीसरी संभावना यह और हो सकती है, याने एक सुधार और! कि हम जर्मन उसी संरक्षण अर्थतंत्र के कर्जदार होते हुए अपने उद्योग को उस शिखर पर पहुंचा दें कि यह उद्योग स्वतंत्र रूप से अंग्रेजों से टक्कर ले सके। चलिए, यह भी सही; मान लीजिए कि ऐसा ही है, तब क्या नतीजा होगा? जैसे ही हम विदेशी बाजार में अंग्रेजों के मुकाबले में उतरेंगे खासकर तटस्थ बाजारों में तो हमें उनसे जीवन और मरण जैसा संघर्ष करना होगा। वे अपनी पूरी ताकत बटोर कर हमें बाजार से बाहर करने के लिए टूट पड़ेंगे और लाद देंगे उसे अपने माल से। उन्हें ऐसा इसलिए करना पड़ेगा क्योंकि हमने तो उनके गले पर ही पांव रख दिया। अत्यंत संवेदनशील स्थल पर आघात कर मारा। वे अपने तमाम संसाधनों के साथ टूट पड़ेंगे और उन समस्त लाभों के साथ जो कि सौ बरस के हो चुके अपने उद्योग से उन्होंने ग्रहण किये हैं। निश्चित है कि हमें घर का मुंह देखना पड़ेगा। वे हमारे उद्योग को समेट कर राष्ट्रीय बाजार में फेंक देंगे और इस तरह फिर वही चिरपरिचित- ठीक वही स्थिति आ खड़ी होगी जिस पर मैं पहले ही काफी जोर दे चुका हूँ याने -हम जम जायेंगे। वे मार्च करते हुए आगे निकल जायेंगे। हमारा उद्योग, सिर पर मंडराते हुए विनाश को टाल नहीं पायेगा। वह सर्वहारा को जीवन देने की स्थिति में नहीं रहेगा तो फिर आप उस पीछे-पीछे चले आ रहे इंकलाब को कैसे रोक सकेंगे? होकर रहेगी सामाजिक क्रांति!

लेकिन अगर इसका उलटा हम सोचने लगें कि हम तटस्थ बाजारों में अंग्रेजों को खदेड़ने में कामयाब हो जायेंगे, कि एक के बाद एक व्यापार में हम उन्हें मजा चखा के रख देंगे। तब करीब-करीब नामुमकिन से इस मामले में से भी हम क्या हासिल करेंगे? यही नहीं कि अधिक से अधिक औद्योगिक विकास के उस शिखर पर चढ़ जायें जिस पर इंग्लैण्ड बरसों पहले पहुंच चुका है और भागते-भागते वहां जा पहुंचे जहां इंग्लैण्ड इस वक्त खड़ा है। याने किस जगह? उसी सामाजिक क्रांति की पूर्वसंध्या पर ही तो! और अपने जर्मनी के मामले में तो प्रक्रिया इतनी लम्बी भी नहीं दिखायी देती। यदि हमारे उद्योगों की जीत का यह सिलसिला बे रोकटोक बढ़ने लगे तो परिणाम होगा कि अंग्रेज ही अनिवार्यतः तबाह हो जायें। इससे भी वही नतीजा हाथ आता है अवश्यंभावी जन विद्रोह! सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग में कड़ी टक्करें जो कि इंग्लैण्ड में बराबर दस्तक दे रही हैं। तेजी से बढ़ती निस्सहायता अंग्रेज मजदूर वर्ग को क्रांति के लिए विवश करेगी और जैसे कि हालात पैदा हो भी रहे हैं, इस सामाजिक क्रांति के प्रचंड प्रभाव से यूरोप-महाद्वीप के अन्य देश भी बच न सकेंगे। खासकर फ्रांस और जर्मनी तो नहीं ही बच पायेंगे इसके ताप से। यह संभावना यहां उतनी ही विशाल है जितनी कि जर्मन उद्योग के भीम डग और उनके फलस्वरूप पैदा होती सर्वहारा की संगठित शक्ति! ऐसी क्रांति अनिवार्यतः और तुरंत ही एक यूरोपीय चरित्र धारण कर लेगी और हमारे जर्मन एकाधिकारवाद के स्वप्न को बलपूर्वक उखाड़कर फेंक देगी। इसी के साथ 'जर्मन और अंग्रेज उद्योगों को मित्रों की तरह साथ-साथ बढ़ना चाहिए' का स्वप्न भी धूल में मिल जायेगा। क्योंकि मित्रता और फ्री कंपटीशन का साथ आज तक कभी देखा नहीं गया। इसलिए मैं इस बात पर जोर दूंगा कि हर उद्योग को सिर्फ आगे बढ़ते रहना होगा, न एक कदम पीछे; न एक सतह नीचे। इसकी ऐतिहासिक नियति ही है विस्तार और विस्तार। इसे नये बाजार जीतने होंगे। नये-नये विशाल संस्थान कायम करने होंगे क्योंकि यही उसकी प्रकृति में निहित है। चीन पर कब्जे के बाद से कोई नया बाजार अब रह नहीं गया है। लिहाजा केवल जो बाजार पहले ही उपलब्ध हैं उन्हीं का बेहतर शोषण संभव है और उद्योगों की रफ्तार जैसी रह चुकी है वैसी आगे नहीं रहेगी। घटेगी ही। और इंग्लैण्ड अब और किसी प्रतिद्वंद्वी को बर्दाश्त नहीं करेगा। अतीत में फिर भी कर सकता था- अब नहीं। हर देश के सामने अपने-अपने उद्योग को बर्बादी से बचाने का प्रश्न आ खड़ा हुआ है। जबकि इंग्लैण्ड में एकाधिकार बनाये रखने का प्रश्न अड़ा हुआ है। यह प्रश्न महज कम या ज्यादा लाभ कमाने मात्र का नहीं है। यह उसके जीवन-मरण का प्रश्न है। राष्ट्रों के बीच प्रतियोगिताओं का संघर्ष अधिक कड़ा और निर्णायक है बनिस्बत पूंजीपतियों के आपसी निजी संघर्ष के क्योंकि यह संघर्ष अधिक सघन है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसमें व्यक्ति नहीं जनता खींच ली गयी है इसका अंत तभी हो सकता है जब एक पक्ष की जीत निर्णायक हो उठे और दूसरे की हार भी फैसलाकुन हो। इसी कारण जैसा कि मैंने स्पष्ट किया है कि हमारे और इंग्लैण्ड के संघर्ष के मामले में इस बात का कोई अर्थ नहीं है कि कौन जीतता है क्योंकि इस संघर्ष में हमारे या उनके पूंजीपतियों का कोई भला होने वाला नहीं है अर्थ केवल उस सामाजिक क्रांति का है जो इसमें खिंची चली आयेगी।

सज्जनों, देखा आपने कि हर संभावना जर्मनी के लिए क्या लाती है? चाहे मुक्त व्यापार का मामला हो या संरक्षण के तले विकास का- एक ही परिणाम है। अब हमारे पास एक और आर्थिक विकल्प जो बचा हुआ है वह यही कि जो हाल है राम भरोसे वही चले। लेकिन ये नतीजे तब भी हमारा पीछा नहीं छोड़ते। उद्योग की शाखाएं एक के बाद एक बंद होंगी ही। औद्योगिक सर्वहारा बर्बाद होगा ही। और जब यह बर्बादी एक खास मुकाम पर पहुंच जायेगी, सभी बातें एक भीषण विस्फोट के रूप में फट पड़ेगी। वंचित वर्ग संचित पूंजी पर धावा बोलकर रहेगा।

इसलिए आप देखते ही हैं श्रीमान, अपने आरंभिक कथनों की विस्तार से पुष्टि करके, सामान्यतः प्रतियोगिता का विवेचन करके, साफ शब्दों में सामाजिक क्रांति होकर रहेगी

में कहना चाहूंगा- नाम लेकर कि वर्तमान में हमारे सामाजिक संबंधों का अनिवार्य परिणाम हर मामले में एक ही है- सामाजिक क्रांति। ठीक उतनी ही निश्चयात्मकता से जिससे हम प्रदत्त गणितीय सिद्धान्तों से नये-नये गणितीय अकाट्य तर्क गढ़ सकते हैं, इतनी ही निश्चयात्मकता से हम मौजूदा आर्थिक संबंधों के प्रकाश में राजनीतिक अर्थशास्त्र की रचना कर सकते हैं। याने बिल्कुल गणितीय अकाट्य ढंग से सामाजिक क्रांति को स्पष्ट कर सकते हैं। बेशक हमें इस भूकम्प पर एक गहन दृष्टि डालनी चाहिए कि यह आघात क्या रूप धारण करेगा? इसके परिणाम क्या होंगे? और उससे भी अहम बात यह है कि किन मामलों में यह अब तक आये हिंसक तूफानों की परंपरा से बिल्कुल अलग किस्म का होगा। दोस्तों, यह सामाजिक क्रांति उन राजनीतिक क्रांतियों से जो कि अब तक होती रही हैं, काफी भिन्न किस्म की चीज होती हैं। इसकी दिशा उन क्रांतियों की तरह केवल एकाधिकार की संपत्ति के विरुद्ध नहीं है, बल्कि यह है पूंजी की एकाधिकारिता के विरुद्ध। यह सामाजिक क्रांति महोदयों, अमीरों के खिलाफ गरीबों की ऐलानिया खुली जंग है। यह ऐसी जंग है जो अपने तमाम कारणों और मूल स्रोतों को, उघाड़ कर रख देती है। जबकि ये कारण और स्रोत पुराने ऐतिहासिक युद्धों में तले में, अंधेरे कोनों में कहीं न कहीं छिपे रहते हैं। यहां इस जंग में वे खुलकर काम करते हैं- बिना किसी लाग-लपेट के। यह जंग यकीनन जोरदार ढंग से धमकाती है कि यह पहले के तमाम ऐतिहासिक युद्धों से अधिक प्रचंड और भयंकर होगी। इस कदर खूंखार होगी कि पहले की जंगों को लोग भूल जायें। साफ कर दूं कि इस जंग के नतीजे भी दोहरे हो सकते हैं- एक तो यह कि विद्रोह की शक्तियां केवल सतह पर आक्रमण करें और सारतत्व को वास्तविक चालक शक्ति को न बदलें, याने केवल रूप बदल दें उसकी अंतर्वस्तु वही की वही रहे। या दूसरे यह हो सकता है कि ये शक्तियां अधिकाधिक अंतर्वस्तु या मध्य वस्तु पर ही केन्द्रित हो जायें और बीमारी की जड़ पर प्रहार करें। तो पहले मामले में निजी संपत्ति बरकरार रहेगी केवल उसके वितरण का रूप बदल जायेगा याने वे कारण बने रहेंगे जिन्होंने इस विशाल उग्र परिवर्तन को जन्म दिया था और इसका मतलब होगा फिर से वे कारण पनपें और फिर एक क्रांति हो! लेकिन मित्रों, क्या यह संभव है? क्या ऐसा कभी हुआ है कि कोई क्रांति वही कुछ न कर पाये जिसके करने के लिए वह प्रकट हुई है? ब्रिटिश क्रांति जो कि चार्ल्स प्रथम के दमन के विरुद्ध हुयी थी क्या नहीं कर सकी? उस क्रांति ने धार्मिक और राजनीतिक दोनों सिद्धान्तों को ग्रहण किया। इसी तरह फ्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने पुराने सामंती अभिजातों और बादशाही के खिलाफ अपने संघर्ष में हर वह चीज हासिल की जिसे वह हासिल करना चाहता था। उसने एक झपाटे से उन समस्त बुराईयों का अंत कर दिया, जिनके कारण वह क्रांति हुयी थी। क्या गरीबों का इंकलाब गरीबी के आगे ही घुटने टेक देगा जिसके कि कारणों का ही सफाया हो चुका है? यह कतई मुमकिन नहीं है साथियो, यह तो समस्त ऐतिहासिक अनुभव की धज्जियां उड़ा देना होगा फिर यह भी कि सर्वहारा वर्ग की शिक्षा का जो स्तर था, खासकर इंग्लैण्ड और फ्रांस में वह भी हमें ऐसा न सोचने के लिए ही प्रेरित करता है। तब क्या विकल्प बचता है हमारे पास? याने आने वाली क्रांति सामाजिक क्रांति गरीबी और आवश्यकता के वास्तविक कारणों से दो-चार होगी। वास्तविक सुधार से अज्ञान और अपराध को जड़ से मिटा देगी। इसमें क्या शक कि यह सब तभी मुमकिन होगा जबकि कम्युनिज्म के सिद्धान्तों के आधार पर आगे बढ़ा जाये। जरा सोचिए तो आप लोग कि वे विचार जो उन देशों में मजदूरों को सक्रिय बनाते हैं, यह सिद्ध करते हैं कि मजदूर भी सोच सकते हैं श्रीमान! फ्रांस की मिसाल लें तो पायेंगे कि श्रमिक आंदोलनों को विभिन्न हिस्सों में जो कि सभी कम्युनिस्ट सांचे में तो ढले नहीं थे; और या इंग्लैण्ड जायें और देखें कि वहां मजदूरों के विकास के लिए किस तरह के प्रस्ताव और मांग पत्र पेश किये जाते हैं? क्या ये मिसालें सम्पत्ति पर साझे हक की चेतना को प्रतिबिम्बित नहीं करतीं? सामाजिक सुधार की विविध प्रणालियों जिनका आज भी कोई महत्व बना हुआ है, उनमें से केवल एक फूरिए की प्रणाली है जो कम्युनिस्ट नहीं है क्यों कि उन्होंने अपना अधिक ध्यान मनुष्य की गतिविधियों के सामाजिक संगठन की ओर लगाया और सामाजिक उत्पादों के वितरण की उपेक्षा की। इन सभी तथ्यों से इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि भविष्य की सामाजिक क्रांति साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही होगी और मुश्किल से ही कोई दूसरा रूप लेगी। कम्युनिज्म हमारी मौजूदा परिस्थितियों के अनिवार्य परिणाम हैं- तब हमें इस बात पर ध्यान देना ही होगा कि सबसे पहले कोई ऐसा रास्ता निकले जिस पर चलते हुए सामाजिक परिस्थितियों को बदल डालने के हिंस और रक्तपात से पूर्ण उपायों से बच सकें। और उसका केवल एक तरीका है, एकमात्र तरीका कि हम कम्युनिज्म के निर्माण की तैयारी में जुट जायें और शांतिपूर्ण ढंग से इससे सबका घनिष्ट परिचय करायें। यदि हम सामाजिक पुनर्गठन का खून-खराबे से भरा हुआ रास्ता इख्तियार नहीं करना चाहते; यदि हमारी मंशा नहीं है कि रोज-ब-रोज शिक्षा और सर्वहारा वर्ग का अंतर्विरोध और तीखा हो कि मजदूर वर्ग सिर पर सवार हो जायें जैसा कि सबको डर है, और जैसे कि हमारे मानव जाति के हमारे अब तक के अनुभवों से प्रकट है कि इसका मतलब होगा कि यह अंतर्विरोध हमेशा नंगी ताकत से ही हल किया जाता है। भयंकर निराशा और इंतकाम की आग! तब साहिबान हमें गंभीरतापूर्वक इस सामाजिक समस्या के प्रति बिना किसी पूर्वाग्रह के सजग हो जाना चाहिए और यह हद करना चाहिए कि यह हमारा फर्ज होगा कि हम आधुनिक दासों याने सर्वहारा की अवस्था को मानवीय बनाने में जुट जायें। उसकी जिन्दगी जीने लायक हो इस यज्ञ में अपना-अपना हिस्सा डालें।

और जैसा कि आप में कुछ ऐसा सोच रहे होंगे कि वर्गहीन समाज की स्थापना इस तरह संभव नहीं है, जब तक कि हम खुद अपनी वर्तमान स्थिति को मिटा न डालें तो यह बात भी आप सबको दिमाग में साफ कर लेनी चाहिए कि जब हम सब लोगों के लिए कहते हैं तो उससे हमारे मतलब क्या हैं? याने यह कि हर इंसान अपनी प्रकृति का स्वतंत्र रूप से निर्माण कर सकता है और केवल अपने पड़ोसियों से नितान्त मानवीय संबंधों के आधार पर ही रह सकता है, और इस डर से उसका पिंड छूट जाता है कि कोई बलपूर्वक आकर उसकी सत्ता उखाड़ फेंकेगा; यह बात भी दिमाग में बिल्कुल साफ कर लेनी चाहिए कि कुछ लोगों को जो कुछ बलिदान करना पड़ रहा है वह मानव जीवन के सच्चे आनन्द से कोसों दूर है। यह उस आनन्द का आभास मात्र है जो कि इन तमाम बुराईयों से पैदा होता है; उसका उस तार्किकता तथा सहृदयता से कोई नाता नहीं है जो कि नये समाज के महान लाभों से जुड़ी है। वर्तमान वास्तविक मानव-जीवन के विनाश या विध्वंस का हमारा कोई इरादा नहीं है न उसकी आकांक्षाएं और आवश्यकताएं तर्क करने का। इसके विपरीत हम उसे सही तौर पर अस्तित्व में लाना चाहते हैं। और इस सबसे स्वतंत्र भी, यदि आप कुछ पल गंभीरता से इस पर सोचेंगे कि हमारी वर्तमान दशाओं के परिणाम क्या हैं या क्या हो सकते हैं या होंगे। या हम अव्यवस्थाओं और अंतर्विरोधों की किस भूल-भुलैया में फंसने के लिए मजबूर हैं, किधर धकियाये जा रहे हैं, तब सज्जनों, आप निश्चित रूप से यह पायेंगे कि यह सामाजिक समस्या गंभीरतापूर्वक और समग्र रूप से अध्ययन करने के सर्वथा योग्य हैं और मैं यदि इतने से के लिए भी आपको प्रेरित कर सका तो मैं समझूंगा कि आज की बातचीत का उद्देश्य पूरा हो गया।

(साभार : 'नागरिक' वर्ष 17 अंक 08, 16-30 अप्रैल 2014)